

# सभी दलितों को समान अधिकार सुनिश्चित किए जाएं

आर्च बिशप ए.एम. चिन्नप्पा/ए. फिलोमिन राज

“जहां जातिगत अत्याचार संविधान की खिल्ली उडाते हैं” लेख में वामपंथी दल के नेता डी. राजा ने लिखा है कि तमिलनाडु में दलित पंचायत बन सके यह सुनिश्चित करने में संविधान विफल रहा है। यही एक क्षेत्र ऐसा नहीं है जहां संविधानान विफल रहा है। यह दलितों के एक वर्ग के प्रति भी विफल रहा क्योंकि वे अपनी पसंद के धर्म के अनुयायी हैं। यह अधिकार उन्हें इसी संविधान ने दिया है। लगभग पांच दशकों से ईसाई दलितों की बराबर के अधिकारों की मांग को अनसुनी किया गया है।

ईसाई दलितों को आरक्षण सुविधा न देने के पीछे यह दलील दी जाती है कि ईसाई धर्म में कोई जाति व्यवस्था नहीं होती। यह सही है। ईसाई धर्म जाति के आधार पर भेदभाव नहीं करता। परंतु भारत में परिस्थिति भिन्न है। हमारा समाज जाति व्यवस्था पर आधारित है। जन्म से मृत्यु तक जातिगत आधार मूल तक समाए रहते हैं। सभी धर्मों के दलित उसी समाज में रहते हैं जो जातिगत मूल्यों पर आधारित हैं। उनके पीछे अस्पृश्यता का सामाजिक कलंक—वे जहां भी जाते हैं पीछा करता है। धर्म परिवर्तन से दलितों पर लगा यह सामाजिक कलंक उनका पीछा नहीं छोड़ता। जहां तक अत्याचारों

का प्रश्न है उसमें हिंदू दलितों एवं ईसाई दलितों में कोई अंतर नहीं है।

विवाद का विषय राष्ट्रपति का वह संविधान संबंधित आदेश है। 1950 के इस आदेश के तीसरे अनुच्छेद में कहा गया है कि “कोई भी व्यक्ति जो हिंदू धर्म के अतिरिक्त किसी अन्य धर्म को मानता है उसे अनुसूचित जाति का सदस्य नहीं माना जाएगा।” इस आदेश को सरसरी तौर पर पढ़ने से भी यह भेदभाव पूर्ण लगता है। किसी एक धर्म तक ही सहूलियतों को सीमित करने से इस आदेश ने संपूर्ण दलित समाज को धर्म के आधार पर विभाजित कर दिया है। जाति एवं आर्थिक सामाजिक पिछड़ेपन को आधार बनाने की बजाय जाति एवं धर्म को आरक्षण से जोड़ा गया है।

यह आदेश हमारे संविधान की कई धाराओं का उल्लंघन करता है। धारा 15 कहती है कि—“राज्य किसी भी नागरिक के साथ धर्म, जाति, लिंग, जन्म स्थान या इनमें से किसी भी आधार पर भेदभाव नहीं करेगा।” पर यहां हम देखते हैं कि राज्य स्वयं एक ही जाति के लोगों में धर्म के आधार पर भेदभाव कर रहा है। धारा 25 के अनुसार “...सभी व्यक्तियों को अपनी अंतरात्मा के अनुसार किसी भी धर्म को व्यक्त करने का, अनुसरण करने का एवं प्रचारित करने की स्वतंत्रता है।” परंतु यह आदेश दलितों को धार्मिक स्वतंत्रता से वंचित करना है। वास्तविक रूप में तो यह आदेश एक विशेष धर्म के दलितों को कुछ सहूलियतें एवं सुरक्षा प्रदान कर उस धर्म में ही बने रहने का प्रलोभन देता है। और यदि वह अपने पसंद के किसी अन्य धर्म को मानते हैं तो उनसे उनके ये अधिकार छीनकर उन्हें दंडित भी करता है।

इस भेदभाव से ईसाई दलित 1976 के नागरिक अधिकारों की रक्षा के कानून के अंतर्गत सुरक्षा प्राप्त करने के अधिकार से भी वंचित हो जाते हैं। इसी प्रकार छुआछूत (अपराध) कानून 1955 व अनुसूचित जाति/जनजाति (अत्याचार निवारण) कानून के परिणामों से भी ईसाई दलित वंचित हो जाते हैं। अतः यदि किसी जातीय दंगों में एक हिंदू दलित स्त्री व एक ईसाई दलित स्त्री शीलभंग की शिकार होती है, ये कानून हिंदू

दलित स्त्री की रक्षा के लिए तो आगे आएंगे पर ईसाई दलित स्त्री की रक्षा के लिए नहीं। इस प्रकार यह आदेश अपने संविधान में प्रदत्त मानवाधिकार का एवं संयुक्त राष्ट्र संघ मानवाधिकार घोषणा पत्र का खुला उल्लंघन है जिस पर भारत भी एक हस्ताक्षरकर्ता है।

सर्वोच्च न्यायालय ने भी यह फैसला दिया है कि धर्म परिवर्तन से व्यक्ति की जाति परिवर्तित नहीं होती, और अनुसूचित जाति के लोगों द्वारा ईसाई धर्म स्वीकारने से उनकी कमजोर स्थिति में परिवर्तन नहीं होता बल्कि उनकी स्थिति भी अन्य धर्मावलंबी दलितों जैसी ही होती है। फैसले के कुछ अंश उद्धृत करने योग्य हैं—

“...उन्हें (ईसाई दलितों का) संविधान सम्मत आरक्षण की सुरक्षा से केवल इसलिए वंचित करना क्योंकि उन्होंने धर्म परिवर्तन किया है, हमारी धर्मनिरपेक्षता की धारणा को ही एवं आरक्षण के पीछे की सोच को ही खतरे में डालना है।” (मंडल केस के फैसले की धारा 271 जजमेंट टुडे के खंड 6, अंक 9 की पृष्ठ संख्या 367)

“...हमारे देश में दुर्भाग्यवश एवं दमनकारी रूप से जातिप्रथा की जड़ें इतनी गहरी हैं कि इसने धर्म की दीवारें भी लांघ ली हैं।...जातिप्रथा अन्य धर्मों व हिंदू धर्म के भी इसे न मानने वाला मतावलंबियों की घुसपैठ कर गई है। फलस्वरूप हम देखते हैं कि अन्य धर्मावलंबी व हिंदू धर्म के इस प्रथा को न मानने वाले मतावलंबी कभी-कभी कट्टर हो जाते हैं जितने कि रूढ़िवादी हिंदू। हमें ईसाई दलित, ईसाई नाडर, ईसाई रेड्डी, ईसाई कम्मा, मुजबी सिख आदि देखने को मिलते हैं। (मंडल केस फैसले की धारा 469)

“...धर्म परिवर्तन जातिप्रथा को समाप्त करने में सफल नहीं हुआ है। धर्म परिवर्तन किए हुए लोग अपनी जाति एवं व्यवसाय नए धर्म में ले जाते हैं। परिणामस्वरूप सिख, मुस्लिम एवं ईसाई धर्म में भी अलग-अलग मात्रा में जातिप्रथा विद्यमान है, इन धर्मों के उपदेशों के बावजूद। जातिप्रथा संपूर्ण भारतीय समाज की आधारशिला है, इसकी जड़ता में विभिन्न धर्मों में कुछ अंतर हो सकता है। (मंडल केस फैसले की धारा 400,

जजमेंट टुडे के खंड 9 के अंक 30, वर्ष 1992)

सर्वोच्च न्यायालय के फैसले के अतिरिक्त अल्पसंख्यक आयोग ने भी आरक्षण को अन्य धर्मावलंबी दलितों के लिए लागू करने की अनुशंसा की है...क्योंकि ईसाई, मुस्लिम एवं बुद्ध दलित उनके धर्मांतरण के बाद भी सामाजिक एवं आर्थिक कमजोरियों से पीड़ित रहते हैं, अतः उन्हें धर्मांतर से पूर्व प्राप्त सुविधाओं को जारी रहने देने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।" (अल्पसंख्यक आयोग की तृतीय वार्षिक रिपोर्ट, नई दिल्ली-1980, पृष्ठ सं. 31)

यद्यपि ईसाई भारत में अल्पसंख्यक हैं (2.4 प्रतिशत) किंतु इनमें से अधिकांश (65 प्रतिशत) दलित वर्ग के हैं। उनका सामाजिक-आर्थिक स्तर भारत के सामान्य दलितों से भिन्न नहीं है, और उनके समान हकों की मांग पूर्व परिपाटी के विपरीत नहीं है। यह ध्यान में रखने योग्य बात है कि राष्ट्रपति आदेश दो बार संशोधित किया गया है : 1956 में सिख दलितों को समाविष्ट करने के लिए, और पुनः 1990 में नव बुद्धों को समाविष्ट करने के लिए।

1990 में संसद में एक मत से ईसाई दलितों को नवबुद्ध दलितों की भांति समान न्याय देने की वकालत की गई थी। बजट सत्र में नवबुद्धों को शामिल करने के लिए राष्ट्रपति आदेश में संशोधन के बिल के साथ ईसाई दलितों का समावेश करने का बिल भी पेश किया गया। परंतु रामविलास पासवान, केंद्रीय समाज कल्याण मंत्री द्वारा यह आश्वासन दिए जाने पर कि, ईसाई दलितों से संबंधित बिल जल्दी ही आगे पेश किया जाएगा, नवबुद्धों को सुविधाएं प्रदान करने वाला बिल सर्वसम्मति से पारित कर दिया गया।

17 जून 1992 को अनुसूचित जाति एवं जनजाति की आर्थिक-सामाजिक-राजनैतिक स्थिति पर राष्ट्रीय सम्मेलन में, अनुसूचित जाति एवं जनजाति पर संसदीय फोरम ने सर्वसम्मति से यह निर्णय लिया कि सरकार से मांग की जाए कि ईसाई दलितों के खिलाफ भेदभाव समाप्त किया जाए एवं संसद के मानसून सत्र में इस आशय का बिल पेश किया जाए।

ईसाई समुदाय द्वारा लगातार प्रदर्शन, धरने, रैली एवं प्रतिनिधि मंडलों के माध्यम से निवेदन करने के फलस्वरूप मार्च 1996 में राष्ट्रपति आदेश में संशोधन के बिल का मसौदा तैयार किया गया जब सीताराम केसरी केंद्रीय समाज कल्याण मंत्री थे। परंतु कुछ तकनीकी कमियों के कारण उस बिल पर चर्चा नहीं हो सकी। 2004 में यू.पी.ए. सरकार के सत्ता में आने के पश्चात इस बिल को फिर से संसद में प्रस्तुत करने की गुहार प्रधानमंत्री से की गई।

एक जनहित याचिका के संदर्भ में सर्वोच्च न्यायालय को दिए गए उत्तर में अटोर्नी जनरल ने कहा कि सरकार ने इस मुद्दे के अध्ययन के लिए एक आयोग गठित किया है। परंतु इससे पूर्व सरकार द्वारा गठित अनेक आयोगों ने इस मुद्दे का गहनता से अध्ययन किया है और ईसाई दलितों को भी यह परिलाम देने की अनुशंसा की है। अब एक नया आयोग गठित करना अनावश्यक है एवं इस मामले में भी देरी करने एक प्रयास है। इसकी वजाय यू.पी.ए. सरकार को 1996 में प्रारंभ की गई प्रक्रिया को आगे बढ़ाने हेतु शीघ्र एक बिल संसद में पेश करने का नैतिक दायित्व उठाना चाहिए और पीड़ित ईसाई दलितों को न्याय दिलाना चाहिए।

आर्थिक विकास एवं सामाजिक उत्पीड़न एक साथ नहीं चल सकते। लोक कल्याणकारी सरकार को समाज के हर वर्ग के लोगों के विकास का लक्ष्य सामने रखना चाहिए। दलितों के एक वर्ग को विकास भी प्रक्रिया से बाहर रखना सिर्फ इसलिए कि वे ईसाई हैं, विकास की प्रक्रिया पर प्रतिकूल असर डालेगा और राष्ट्र के लिए भी एक कलंक सिद्ध होगा।

नवगठित राष्ट्रीय एकता परिषद दिल्ली में हुई 31 अगस्त 2005 की प्रथम बैठक में ईसाई दलितों को समान हक दिलाने की मांग पुरजोर शब्दों में की गई। इसे कई राजनैतिक दलों के नेताओं से एवं जाने-माने न्यायविदों से समर्थन मिला है। हमें आशा है कि सरकार को सदबुद्धि आएगी और यह ऐतिहासिक विसंगति शीघ्र ही ठीक कर ली जाएगी।